जैनदर्शन में तत्त्व-चिन्तन

☐ सुभाष मुनि 'सुमन'

जैनाचार्य सत्, तत्त्व, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ, तत्त्वार्थ आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में करते रहे हैं। जैनदर्शन में तत्त्व-सामान्य के लिये इन सभी शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैनदर्शन तत्त्व और सत् को एकार्थक मानता है। द्रव्य और सत् में भी कोई भेद नहीं है, यह बात उमास्वाति के "सत् द्रव्यलक्षणम्" इस सूत्र से सिद्ध होती है। तत्त्व को चाहे सत् कहिये, चाहे द्रव्य कहिये। सत्ता सामान्य की दृष्टि से सब सत् है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुये यह कहा गया है कि सब एक हैं, क्योंकि सब सत् हैं। इसी बात को दीर्घतमा ऋषि ने :"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" सत् तो एक है किन्तु विद्वान् उसका कई प्रकार से वर्णन करते हैं—ऐसा कहा। स्थानांगसूत्र में इसी सिद्धान्त को दूसरी तरह से समझाया गया है। वहाँ पर "एक आत्मा" और "एक लोक" की बात कही गयी है।

सत् का स्वरूप

सत् के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए तत्वार्थसूत्रकार ने कहा कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है। आगे जाकर इसी बात को, "गुण और पर्याय वाला द्रव्य है" इस प्रकार कहा। उत्पाद और व्यय के स्थान पर पर्याय आया और ध्रौव्य के स्थान पर गुण। उत्पाद और व्यय परिवर्तन के सूचक हैं। ध्रौव्य नित्यता की सूचना देता है। गुण नित्यता वाचक है और पर्याय परिवर्तन सूचक। किसी भी वस्तु के दो रूप होते हैं—एकता और अनेकता, नित्यता और अनित्यता, स्थायित्व और परिवर्तनशीलता, सदृशता और विसदृशता। इनमें से प्रथम पक्ष ध्रौव्यसूचक है—गुण सूचक है। द्वितीय पक्ष उत्पाद-व्ययसूचक है-पर्यायसूचक है। वस्तु के स्थायित्व में एकरूपता होती है, स्थिरता होती है।

परिवर्तन में पूर्व रूप का विनाश होता है, उत्तर रूप की उत्पत्ति होती है। विनाश और उत्पत्ति के रहते हुए भी वस्तु सर्वथा नष्ट नहीं होती और न सर्वथा नवीन ही उत्पन्न होती है। विनाश और उत्पाद के बीच एक प्रकार की स्थिरता रहती है।

द्रव्य और पर्याय

जैन साहित्य में द्रव्य शब्द का प्रयोग सामान्य के लिये भी हुआ है। जाति अथवा सामान्य को प्रकट करने के लिये द्रव्य और व्यक्ति अथवा विशेष को प्रकट करने के लिये पर्यायशब्द का प्रयोग किया जाता है।

द्रव्य अथवा सामान्य दो प्रकार का है—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। एक ही काल में स्थित अनेक देशों में रहने वाले अनेक पदार्थों में जो समानता की अनुभूति होती है, वह तिर्यक् सामान्य है। जब कालकृत नाना अवस्थाओं में किसी द्रव्य का एकत्व या अन्वय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवक्षित हो, एक विशेष पदार्थ की अनेक अवस्थाओं की एकता या ध्रौव्य अपेक्षित हो, तब उस एकत्व अथवा ध्रौव्यसूचक अंश को ऊर्ध्वता-सामान्य कहा जाता है।

जिस प्रकार द्रव्य या सामान्य दो प्रकार का है, उसी प्रकार पर्याय अथवा विशेष भी दो प्रकार का है। तिर्यक् सामान्य के साथ रहने वाले जो विशेष विवक्षित हों वे तिर्यक्-विशेष हैं और ऊर्ध्वता सामान्याश्रित जो पर्याय हों वे ऊर्ध्वताविशेष हैं।

द्रव्य के ऊर्ध्वता सामान्याश्रित पर्यायों को परिणाम भी कहा जाता है। भगवतीसूत्र और प्रज्ञापनासूत्र में इस प्रकार के परिणामों का वर्णन है। विशेष और परिणाम दोनों द्रव्य के पर्याय हैं क्योंकि दोनों परिवर्तनशील हैं। परिणाम में काल-भेद की प्रधानता रहती है, जबकि विशेष में देश-भेद मुख्य होता है। जो काल की दृष्टि से परिणाम हैं, वे ही देश दृष्टि से विशेष हैं। इस प्रकार पर्याय, विशेष, परिणाम, उत्पाद और व्यय प्रायः एकार्थक हैं। द्रव्य की विविध अवस्थाओं में इन सभी शब्दों का समावेश हो जाता है।

द्रव्य और पर्याय का स्वरूप समझ लेने के बाद यह जानना भी आवश्यक है कि द्रव्य और पर्याय का सम्बन्ध क्या है? द्रव्य और पर्याय भिन्न हैं या अभिन्न? इस प्रश्न को सामने रखते हुए भगवतीसूत्र में भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यों और भगवान् महावीर के शिष्यों में हुए एक विवाद का वर्णन है। पार्श्वनाथ के शिष्य यह कहते हैं कि उनके प्रतिपक्षी सामायिक का अर्थ नहीं जानते। महावीर के शिष्य उन्हें समझाते हैं कि "आत्मा ही सामायिक है। आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।" यहाँ पर आत्मा एक द्रव्य है और सामायिक आत्मा की अवस्था विशेष है अर्थात् पर्याय है। सामायिक आत्मा से भिन्न नहीं है अर्थात् पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं है। यह द्रव्य और पर्याय की अभेददृष्टि है। इस दृष्टि का समर्थन आपेक्षिक है। किसी अपेक्षा से आत्मा और सामायिक दोनों एक हैं, क्योंकि सामायिक आत्मा की ही एक अवस्था है—आत्मपर्याय है। अन्यत्र द्रव्य और पर्याय के भेद का भी समर्थन किया गया है। "पर्याय अस्थिर होने पर भी द्रव्य स्थिर रहता है", इस वाक्य से स्पष्ट भेद-दृष्टि झलकती है। यदि द्रव्य और पर्याय का सर्वथा अभेद होता तो पर्याय के नष्ट होते ही द्रव्य भी नष्ट हो जाता। इसका अर्थ यह है कि पर्याय ही द्रव्य नहीं है। द्रव्य और पर्याय कथंचित् भिन्न भी हैं। द्रव्य की पर्याय बदलती रहती है, किन्तु द्रव्य अपने आप में नहीं बदलता। द्रव्य का गुण कभी नष्ट नहीं होता, भले ही उसकी अवस्थाएँ मिटती रहें और पैदा होती रहें। पर्याय-दृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय के भेद का समर्थन किया जा सकता है और द्रव्य-दृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय के अभेद की पुष्टि की जा सकती है। दृष्टि-भेद से द्रव्य और पर्याय के भेद और अभेद की कल्पना करना ही भगवान् महावीर को अभीष्ट था।

इस प्रकार आत्मा और ज्ञान के विषय में भी भगवान् महावीर ने वही बात कही। ज्ञान आत्मा का एक गुण है। वह सदैव स्थिर रहता है किन्तु उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। फिर भी ज्ञान की आत्मा से भिन्न स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह आत्मा का ही एक अंश-विशेष है। इस दृष्टि से ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं। यदि आत्मा और ज्ञान में एकान्त अभेद होता तो उनमें गुण-गुणी भाव न होता। ऐसी अवस्था में अनेक धर्मात्मक आत्मा-द्रव्य की उपलब्धि न होती। यदि ज्ञान और आत्मा में एकान्त भेद होता तो एक व्यक्ति के ज्ञान और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में कोई अन्तर न होता। एक व्यक्ति के ज्ञान

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की स्मृति दूसरे व्यक्ति को हो जाती अथवा उस व्यक्ति के ज्ञान का स्मरण उसे स्वयं को भी न हो पाता। ऐसी अवस्था में ज्ञान के क्षेत्र में अराजकता और अव्यवस्था हो जाती। इसलिये ज्ञान और आत्मा का कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद मानना ही उचित है। द्रव्य-दृष्टि से ज्ञान और आत्मा का अभेद मानना चाहिये और पर्याय-दृष्टि से दोनों का भेद मानना चाहिये।

आत्मा के आठ भेदों की बात भगवतीसूत्र में कही गई है। गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं—हे भगवन्! आत्मा के कितने प्रकार हैं? महावीर उत्तर देते है-गौतम! आत्मा को आठ प्रकार का कहा गया है। वे आठ प्रकार ये हैं—द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा। ये भेद द्रव्य और पर्याय दोनों दृष्टियों से हैं। द्रव्यात्मा द्रव्यदृष्टि से और शेष सात पर्यायदृष्टि से। इस प्रकार की अनेक चर्चाएँ जैन दार्शनिक साहित्य में मिलती हैं, जिनसे द्रव्य और पर्याय के सम्बन्ध का पता लगता है। द्रव्य-पर्याय एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव है। द्रव्य-रहित पर्याय की उपलब्धि नहीं हो सकती उसी प्रकार पर्याय-रहित द्रव्य की उपलब्धि भी असम्भव है! जहाँ पर्याय होगा वहाँ द्रव्य अवश्य होगा, जहाँ द्रव्य होगा वहाँ उसका कोई न कोई पर्याय अवश्य होगा।

भेदाभेदवाद

दर्शन के क्षेत्र में भेद और अभेद को लेकर मुख्य रूप से चार पक्ष बन सकते हैं। एक पक्ष केवल भेद का समर्थन करता है, दूसरा पक्ष केवल अभेद को स्वीकृत करता है, तीसरा पक्ष भेद और अभेद दोनों को मानता है, चौथा पक्ष भेद-विशिष्ट अभेद का समर्थन करता है। भेद और अभेद का यथार्थ समन्वय जैनदर्शन की विशिष्ट देन हैं। जब हम भेदाभेदवाद की व्याख्या करते हैं, तो उसका अर्थ होता है भेदविशिष्ट अभेद और अभेदविशिष्ट भेद। भेद और अभेद दोनों समान रूप से सत् हैं। जिस प्रकार अभेद वास्तविक है, ठीक उसी प्रकार भेद वास्तविक है। जहाँ भेद है वहाँ अभेद है, जहाँ अभेद है वहाँ भेद है। भेद और अभेद स्वाभाव से ही एक दूसरे से मिले हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वभाव से ही समान्य-विशेषात्मक है—भेदाभेदात्मक है—नित्यानित्यात्मक है। जो सत् है वह भेदाभेदात्मक है। प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। वस्तु या तत्त्व को केवल भेदात्मक कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी भेद बिना अभेद के उपलब्ध नहीं होता। भेद और अभेद को दो मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न उपलब्ध नहीं होते और उनको जोड़ने वाला कोई अन्य पदार्थ भी उपलब्ध नहीं होता। तत्व कथंचिद् सदृश है, कथंचित् विसदृश-विरूप है, कथंचित् वाच्य है—कथंचित् अवाच्य है, कथंचित् सत् है—कथंचित् असत् है। ये जितने भी धर्म हैं, वस्तु के अपने धर्म हैं। इन धर्मों का कहीं बाहर से सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है। वस्तु स्वयं सामान्य और विशेषरूप है, भिन्न और अभिन्न है, एक और अनेक है, नित्य और क्षणिक हैं। द्रव्य सामान्य और विशेष दोनों का समन्वय है। कोई भी वस्तु इन दोनों रूपों के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती।

द्रव्य का वर्गीकरण

द्रव्य के कितने भेद हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनेक तरह से दिया जा सकता है। जहाँ तक द्रव्य-सामान्य का प्रश्न है, सब एक हैं। वहाँ किसी प्रकार की भेद-कल्पना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न ही नहीं होती। जो द्रव्य है, वह सत् है और तत्त्व है। सत्तासामान्य की दृष्टि से जड़ और चेतन, एक और अनेक, सामान्य और विशेष, गुण और पर्याय सब एक है। यह दृष्टिकोण संग्रहनय की दृष्टि से सत्य है। संग्रह-नय सर्वत्र अभेद देखता है। भेद की उपेक्षा करके अभेद का जो ग्रहण है वह संग्रह-नय का कार्य है। अभेदग्राही संग्रह-नय भेद का निषेध नहीं करता अपितु भेद को अपने क्षेत्र से बाहर समझता है। इस नय का अन्तिम विषय सत्ता सामान्य है। प्रत्येक द्रव्य सत् है। सत्ता सामान्य का ग्रहण एकता का अन्तिम सोपान है, जहाँ सारे भेद भेदरूप से सत् होते हुए भी अभेद रूप से प्रतिभासिस होते हैं। सत्ता भेदों को नष्ट नहीं करती, अपितु उनमें एकत्व और सद्भाव स्थापित करती है।

यदि हम द्वैतदृष्टि से देखें तो द्रव्य को दो रूपों में देख सकते हैं। ये दो रूप हैं—जीव और अजीव। चैतन्य-धर्म वाला जीव है और उससे विपरीत अजीव है। इस प्रकार सारा लोक दो भागों में विभक्त हो जाता है। चैतन्य लक्षण वाले जितने भी द्रव्यविशेष हैं, वे सब जीव विभाग के अन्तर्गत आ जाते हैं। जिनमें चैतन्य नहीं है, इस प्रकार के जितने भी द्रव्यविशेष हैं, उन सब का समावेश अजीव विभाग के अन्तर्गत हो जाता है।

जीव और अजीव के अन्य भेद करने पर द्रव्य के छह भेद भी होते हैं। जीव द्रव्य अरूपी है। अजीव द्रव्य के दो भेद किये गये हैं—रूपी और अरूपी। रूपी द्रव्य को पुद्गल कहा गया। अरूपी के पुनः चार भेद हुए—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अद्धासमय-काल। इस प्रकार द्रव्य के कुल ६ भेद हो जाते हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और अद्धासमय। इन छह द्रव्यों में से प्रथम पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं और छठा अनस्तिकाय है।

"अस्ति" और "काय" इन दोनों शब्दों से अस्तिकाय बनता है। अस्ति का अर्थ है प्रदेश होना और काय का अर्थ है अनेक प्रदेशों का समूह। जहाँ अनेक प्रदेशों का समूह होता है वह अस्तिकाय कहा जाता है। पुद्गल का एक अणु जितना स्थान [आकाश] घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं। यह एक प्रदेश का परिमाण है। इस प्रकार के अनेक प्रदेश जिस द्रव्य में पाए जाते हैं, वह द्रव्य अस्तिकाय कहा जाता है। इस नाप से पुद्गल के अतिरिक्त अन्य पांचों द्रव्य भी नापे जा सकते हैं। यद्यपि जीवादिद्रव्य अरूपी है, किन्तु उनकी स्थिति आकाश में है और आकाश स्व-प्रतिष्ठित है। अतः उनका परिमाण समझाने के लिए नापा जा सकता है। पुद्गलद्रव्य को छोड़कर शेष द्रव्यों का इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता, किन्तु बुद्धि से उनका परिमाण नापा एवं समझा जा सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव के अनेक प्रदेश होते हैं। अतः ये पांच द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं। इन प्रदेशों को अवयव भी कह सकते हैं। अनेक अवयव वाले द्रव्य अस्तिकाय हैं। अद्धासमय अनेक प्रदेशों वाला एक अखण्ड द्रव्य नहीं है। उसके स्वतंत्र अनेक प्रदेश हैं। प्रत्येक प्रदेश स्वतंत्र रूप से अपना कार्य करता है। उनमें एक अवयवी की कल्पना नहीं की गई, अपितु स्वतंत्र रूप से सारे कालप्रदेशों को भिन्न-भिन्न द्रव्य माना गया है। इस प्रकार यह कालद्रव्य एक द्रव्य न होकर अनेक द्रव्य हैं। लक्षण की समानता से सबको "काल" ऐसा एक नाम दे दिया गया। धर्म आदि द्रव्यों के समान काल एक द्रव्य नहीं है। इसीलिए काल को अनस्तिकाय कहा गया है।

पुद्गल

जिसे सामान्यतया जड़ या भौतिक कहा जाता है, वही जैनदर्शन में पुद्गल शब्द से व्यवहृत होता है। पुद्गल शब्द में दो पद है—"पुद्" और "गल"। पुद् का अर्थ होता है

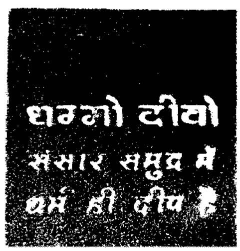

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरण अर्थात् वृद्धि और गल का अर्थ होता है गलन अर्थात ह्रास। जो द्रव्य पूरण और गलन द्वारा विविध प्रकार से परिवर्तित होता है वह पुद्गल है। पुद्गल के मुख्य चार धर्म होते हैं—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण। पुद्गल के प्रत्येक परमाणु में ये चारों धर्म होते हैं। इनके जैन-दर्शन में बीस भेद किए जाते हैं।

स्पर्श के आठ भेद होते हैं—मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।

रस के पाँच भेद होते हैं—तिक्त, कटुक, आम्ल, मधुर और कषाय।

गन्ध दो प्रकार की है—सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध।

वर्ण के पांच प्रकार हैं—नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और लोहित।

ये बीस मुख्य भेद हैं। तरतमता के आधार पर इनका संख्यात असंख्यात और अनन्त भेदों में विभाजन हो सकता है।

पुद्गल के मुख्यतया दो भेद होते हैं—अणु और स्कन्ध।

पुद्गल का वह अन्तिम भाग, जिसका फिर विभाग न हो सके, अणु कहा जाता है। एक अणु में एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं। स्कन्ध अणुओं का समुदाय है।

पुद्गल का कार्य

पुद्गल के कुछ विशिष्ट कार्य हैं। ये कार्य हैं—शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत।

संसारी आत्मा पुद्गल के बिना नहीं रह सकती। जब तक जीव संसार में भ्रमण करता है, तब तक पुद्गल और जीव का सम्बन्ध अविच्छेद्य है।

"पुद्गल शरीर-निर्माण का उपादान कारण है। औदारिक, वैक्रिय और आहारकवर्गणा से क्रमश: औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर बनते हैं तथा श्वासोच्छ्वास का निर्माण होता है। तेजोवर्गणा से तैजस शरीर बनता है। भाषावर्गणा वाणी का निर्माण करती है मनोवर्गणा से मन का निर्माण होता है। कर्मवर्गणा से कार्मण शरीर बनता है।"

तिर्यंच और मनुष्य का स्थूल शरीर औदारिक शरीर है। उदार अर्थात् स्थूल होने के कारण इसका नाम औदारिक है। रक्त, मांस आदि इस शरीर के लक्षण हैं।

देवगति और नरकगति में उत्पन्न होने वाले जीवों के वैक्रिय शरीर होता है। इन जीवों के अतिरिक्त लब्धिप्राप्त मनुष्य और तिर्यंच भी इस शरीर को प्राप्त कर सकते हैं। यह शरीर इन्द्रियों का विषय नहीं होता। भिन्न-भिन्न आकारों में परिवर्तित होना इस शरीर की विशेषता है। इसमें रक्त, मांस, आदि का सर्वथा अभाव होता है।

सूक्ष्म पदार्थ के ज्ञान के लिये अथवा किसी शंका के समाधान के लिये प्रमत्त संयत [मुनि] एक विशिष्ट शरीर का निर्माण करता है। यह शरीर बहुत दूर तक जाता है और शंका के समाधान के साथ पुन: अपने स्थान पर आ जाता है। इसे आहारक शरीर कहते हैं।

तैजस शरीर एक प्रकार के विशिष्ट पुद्गल परमाणुओं [तेजोवर्गणा] से बनता है। जठराग्नि की शक्ति इसी शरीर की शक्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्मण शरीर मानसिक, वाचिक और कायिक सभी प्रकार की प्रवृतियों का मूल है। यह आठ प्रकार के कर्मों से बनता है।

उपर्युक्त पाँच प्रकारों में से हम अपनी इन्द्रियों से केवल औदारिक शरीर का ज्ञान कर सकते हैं। शेष शरीर इतने सूक्ष्म हैं कि हमारी इन्द्रियाँ उनका ग्रहण नहीं कर सकतीं। अतीन्द्रियज्ञानी ही उनका प्रत्यक्ष कर सकता है।

धर्म

जीव और पुद्गल गति करते हैं। इस गति के लिए किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता है। यह माध्यम धर्म द्रव्य है। चूंकि यह अस्तिकाय है, इसलिए इसे धर्मास्तिकाय भी कहते हैं। गति तो जीव और पुद्गल ही करते हैं, किन्तु उनकी गति में जो सहायक कारण है—माध्यम है वह धर्म हैं। यदि बिना धर्म के भी गति हो सकती तो मुक्त जीव अलोकाकाश में भी पहुँच जाता। अलोकाकाश में आकाश के सिवाय कोई द्रव्य नहीं है। मुक्त जीव स्वभाव से ही ऊर्ध्व गति वाला होता है। ऐसा होते हुए भी वह लोक के अन्त तक जाकर रुक जाता है, क्योंकि अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय नहीं है। धर्मास्तिकाय के अभाव में गति नहीं हो सकती।

राजवार्तिककार के अनुसार स्वयं क्रिया करने वाले जीव और पुद्गल की जो सहायता करता है वह धर्म है। यह नित्य है, अवस्थित है और अरूपी है। नित्य का अर्थ है, तद्भावाव्यय। गति [क्रिया] में सहायता देने रूप भाव से कभी च्युत नहीं होना ही धर्म का तद्भावाव्यय है। अवस्थित का अर्थ है जितने प्रदेश हैं उतने ही प्रदेशों का हमेशा रहना। धर्म के असंख्यात प्रदेश हैं। वे प्रदेश हमेशा असंख्यात ही रहते हैं। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण रहित अरूपी द्रव्य है। धर्मास्तिकाय पूरा एक द्रव्य है। जीवादि की तरह धर्म भिन्न-भिन्न रूप से नहीं रहता, अपितु एक अखण्ड द्रव्य के रूप में रहता है। यह सारे लोक में व्याप्त है।

अधर्म

जिस प्रकार गति में धर्म कारण है उसी प्रकार स्थिति में अधर्म कारण है। जीव और पुद्गल जब स्थितिशील होने वाले होते हैं तब अधर्म द्रव्य उनकी सहायता करता है। जिस प्रकार धर्म के अभाव में गति नहीं हो सकती, उसी प्रकार अधर्म के अभाव में स्थिति नहीं हो सकती। अधर्म भी एक अखण्ड द्रव्य है। इसके असंख्यात प्रदेश हैं। धर्म की तरह यह भी सर्वलोकव्यापी है।

आकाश

जो द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान देता है वह आकाश है। यह सर्वव्यापी है, एक है, अमूर्त है और अनन्त प्रदेशों वाला है। इसमें सभी द्रव्य रहते हैं। यह अरूपी है। आकाश के दो विभाग हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाश के जिस भाग में जीवादि द्रव्यों का अस्तित्व देखा जाता है वह लोक है। लोक रूप जो आकाश है, वह लोकाकाश है। जिस आकाश में यह नहीं होता वह अलोकाकाश है, वस्तुतः सारा आकाश एक है, अखण्ड है, सर्वव्यापी है। उसमें कोई भेद नहीं हो सकता। भेद का आधार अन्य द्रव्य हैं। आकाश की दृष्टि से लोकाकाश और अलोकाकाश में कोई भेद नहीं है। आकाश सर्वत्र एक रूप है।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकाश को कुछ दार्शनिकों ने स्वतंत्र द्रव्य माना है और कुछ ने नहीं माना। जिन्होंने उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है उनमें से किसी ने भी जैनदर्शन की तरह लोकाकाश और अलोकाकाश के रूप में नहीं माना। पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के इतिहास में "रिक्त आकाश है या नहीं" इस विषय पर काफी विवाद है, किन्तु इस ढंग के दो अलग-अलग विभाग वहाँ भी नहीं मिलते हैं।

अद्धासमय

परिवर्तन का जो कारण है उसे अद्धासमय या काल कहते हैं। काल की व्याख्या दो दृष्टियों से की जा सकती है। द्रव्य का स्वजाति के परित्याग के विना वैस्रसिक और प्रायोगिक विकाररूप परिणाम व्यवहारदृष्टि से काल को सिद्ध करता है। प्रत्येक द्रव्य परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तनों के होते हुए भी उसकी जाति का कभी विनाश नहीं होता। इस प्रकार के परिवर्तन परिणाम कहे जाते हैं। इन परिणामों का जो कारण है वह काल है। यह व्यवहार दृष्टि से काल की व्याख्या हुई। प्रत्येक द्रव्य और पर्याय की प्रतिक्षणभावी स्वसत्तानुभूति वर्तना है। इस वर्तना का कारण काल है। यह काल की पारमार्थिक व्याख्या है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक वृत्ति वाला है। यह वृत्ति प्रतिक्षण रहती है। यही पारमार्थिक काल का कार्य है। काल का अर्थ है परिवर्तन। परिवर्तन को समझने के लिये अन्वय का ज्ञान होना आवश्यक है। अनेक परिवर्तनों में एक प्रकार का अन्वय रहता है। इसी अन्वय के आधार पर यह जाना जा सकता है कि इस वस्तु में परिवर्तन हुआ। यदि अन्वय न हो तो क्या परिवर्तन हुआ, किसमें परिवर्तन हुआ, इसका जरा भी ज्ञान नहीं हो सकता। इसी काल के आधार पर हम घंटा, मिनट, सेकण्ड आदि विभाग करते हैं। यह व्यावहारिक काल है। पारमार्थिक या निश्चय दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ का क्षणिकत्व काल का द्योतक है। क्षण-क्षण में पदार्थ में परिवर्तन होता रहता है, यह परिवर्तन बौद्धसम्मत परिवर्तन की तरह ऐकान्तिक न होकर ध्रौव्ययुक्त है। इस प्रकार दोनों दृष्टियों से काल का लक्षण परिवर्तन है। काल असंख्यात प्रदेश प्रमाण होता है। ये प्रदेश एक अवयवी के प्रदेश नहीं हैं, अपितु स्वतन्त्र रूप से सत् है। इसीलिए काल को अनस्तिकाय कहा गया है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक काल प्रदेश बैठा हुआ है। रत्नों की राशि की तरह लोकाकाश के एक-एक काल प्रदेश पर जो एक-एक द्रव्य स्थित है वह काल है। वह असंख्यात द्रव्य प्रमाण है। इससे यह फलित होता है कि काल एक द्रव्य नहीं है, अपितु असंख्यात द्रव्य प्रमाण है। परिवर्तन की दृष्टि से यद्यपि काल के सभी प्रदेशों का एक स्वभाव है, तथापि वे परस्पर भिन्न हैं। वे सब मिलकर एक अवयवी का निर्माण नहीं करते। जिस प्रकार उपयोग सभी आत्माओं का स्वभाव है, किन्तु सभी आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार वर्तना लक्षण का साम्य होते हुए भी प्रत्येक काल भिन्न-भिन्न है। जीवत्व सामान्य को लेकर सभी आत्माओं को जीव कहा जाता है, उसी प्रकार कालत्व [वर्तना] सामान्य की दृष्टि से सभी कालों को काल कहा गया है। अतः काल वर्तना-सामान्य की दृष्टि से असंख्यात हैं।[1]

जैनदर्शन प्रतिपादित तत्त्व का यह विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तत्त्व का ठीक स्वरूप समझे बिना अन्य विषयों का यथार्थ ज्ञान होना कठिन है। इसलिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है।

---

१. कतिपय आचार्य काल को जीव और अजीव के पर्याय रूप में स्वीकार करते हैं। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु की विद्यमानता नहीं मानते। आगमों में छह द्रव्य स्वीकृत हैं किन्तु काल का विस्तृत विवेचन नहीं मिलता। —सम्पादक □□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org